चिढ़ का चौताल

प्रफुल्ल कोलख्यान

ऐसा शायद ही कोई होगा, जिसके साथ चिढ़ने वाली कोई बात कभी न जुड़ी हो। लोग किसी बात पर क्यों चिढ़ते हैं, यह बताना एलर्जी के कारण बताने की तरह मुश्किल है। चिढ़ना व्यक्तिगत भी होता है और सामाजिक, सामुदायिक, दलीय भी। सुना है, मिथिलांचल के एक गांव के निवासी 'चटनी-पापड़' कहने से बुरी तरह चिढ़ते हैं। एक सज्जन बड़े लजालू ढंग से बता रहे थे कि उनके मुहल्ले के कुछ छोकरे उन्हें 'टीयू-टीयू' की आवाज निकाल कर चिढ़ाते थे। बांग्ला में तोते को टीया पाखी कहते हैं। मगर मैंने इसका मतलब जानना चाहा तो उन्होंने बताया कि 'टीयू' माने 'ट्रेड यूनियन'!

हुआ यों कि किसी सुबह चाय की दुकान पर जब लोग ट्रेड यूनियनों की कार्यशैली पर असंतोष प्रकट कर रहे थे, उन्होंने पूरी भाव-भंगिमा के साथ ट्रेड यूनियनों का समर्थन किया था। जल्दी-जल्दी और प्रभावी ढंग से अपनी बात कहने के लिए उन्होंने बार-बार 'टीयू' शब्द का इस्तेमाल किया था। बात फैली और वे टीयू हो गए!

एक हैं मामा। धोती और सफेद कुर्ता पहनते हैं। दुबले-पतले गौरवर्ण। धवल केश। वे एक ही लोकल ट्रेन में सफर करते हैं। मैंने अक्सर उन्हें कभी किसी मसले की बारीकियों को अपने जीवन अनुभव से जोड़ कर सलाह देते या किसी न किसी गंभीर बहस में उलझते हुए पाया है। बात किसी कल्पित समस्या से शरू होती है। उनकी मंडली का ही कोई सदस्य उनसे उस कल्पित समस्या को सुलझाने में मदद की चिरौरी करता है। मामा शुरू होते हैं और बहस चल पड़ती है। इस बहस में किसी दिशा से स्त्री-पुरुष संबंधों का कोई तत्त्व प्रवेश कर जाता है। इस तत्त्व के प्रवेश से कुंआरे मामा में आवेश का संचार होता है। हावड़ा पहुंचने से कुछ पहले कहीं से किसी रूप में कोई जुमला उछलता है, जिसमें एक सामान्य पद होता है- लाल बादाम। इस लाल बादाम का उच्चारण होते ही बहस उचट जाती है और गाली-गलौज का मनोरंजक दौर शुरू होता है। एक दृश्य उभरता है, जिसमें तिलमिलाते हुए अकेले मामा होते हैं और होती है खिलखिलाती हुई उनकी पूरी मंडली! समापन मामा के उद्घोष से होता है, जिसमें उन लोगों से कभी बात न करने का संकल्प होता है। मगर हा हंत! अगले दिन फिर वही दृश्य!

इतिहास की किताबों में ऐसे उदाहरण कम मिलते हैं जिनसे आदमी प्रेरणा ले, जिनकी जिंदगी को याद कर मायूसी से निजात पा सके। अधिक पढ़े-लिखे आदमी का इतिहास से जो रिश्ता होता है, कम पढ़े-लिखे का वही नाता किंवदंतियों से होता है। कम पढ़ा-लिखा आदमी किंवदंतियों की चरितकथा की छानबीन में अपना वक्त जाया नहीं करता, प्रेरणा लेता और अपने दुख को सहनीय बनाता है। पढ़ा-लिखा आदमी इतिहास के प्रसंगों की प्रामाणिकता की तलाश करता है; ऐसे लोगों को संतोषप्रद प्रामाणिकता तो कुछ हद तक मिल जाती है, प्रेरणा नहीं मिलती। इतिहास आगे बढ़ता है साक्ष्यों और तथ्यों की छानबीन के बाद। किंवदंतियां बिना किसी छानबीन के इस जुबान, उस जुबान; एक कान, दो कान निरंतर आगे बढ़ती रहती हैं। इस अर्थ में किंवदंतियाँ इतिहास की तुलना में अधिक गतिशील, मुक्त और जीवंत होती हैं। जीवित किंवदंती किसी ऐसे आदमी को कहते हैं, जिनके बारे में उनके जीते जी अनेक ऐसे किस्से चल निकलते हैं, जिनकी छानबीन किए बिना साधारण आदमी उन्हें स्वीकार कर लेता है, उनसे प्रेरणा लेता प्रतीत होता है। ऐसे जीवित किंवदंती कम ही लोग हो पाते हैं।

जो लोग बात-बात में अपनी रामकहानी बांचने लगते और सामने वाले की किसी भी समस्या के लिए रामबाण-सा निदान ढूढ़ लाने में सक्षम होते हैं वे अपने व्यक्तित्व में किंवदंती बनने की पूरी संभावना के रहने को मान कर चलते हैं। ऐसे लोग बहुत संवेदनशील होते हैं। इनके सुझावों पर कोई अमल न करे तो कोई मलाल नहीं होता, लेकिन इनकी बातों पर कोई कान ही न दे, इन्हें कतई बर्दाश्त नहीं होता। ये भीतर से तिलमिला जाते हैं। इसी तिलमिलाहट में ऐसा कुछ कह और कर जाते हैं, जिसके किसी नुक्ते का इस्तेमाल साथी-संघाती उन्हें चिढ़ाने के लिए बाद में करते हैं।

चिढ़ने की अपनी वेदना है तो चिढ़ाने का अपना मजा। चिढ़ाने वाला गाली सुन कर भी चिढ़ाने से बाज नहीं आता। लगभग हर आदमी के साथ एकाध ऐसा प्रसंग अवश्य जुड़ा होता है। परेशान आदमी किसी भी कीमत पर ऐसे प्रसंगों से मुक्ति चाहता है, लेकिन मुक्ति तभी मिलती है जब पूरे समूह से मुक्ति मिल जाए। मुक्ति की सामूहिकता और समूह से मुक्ति के सवाल सभ्यता प्रवाह के तलछट बन जाते हैं।

हमारी सभ्यता में चिद्-बिंदु तो कई हैं, चिढ़-बिंदु भी कम नहीं हैं।